रात की अंतिम गाड़ी के पीछे

रात की अंतिम गाड़ी के पीछे की भुकभुकाती लाल बत्ती जब धीरे-धीरे
पुतलियों से ओझल होती जा रही हो
ठीक उस समय कितना असहाय होता है
प्लेटफॉर्म पर खड़ा यात्री, स्तब्ध, बेचैन और घबराया हुआ -- हक्का-बक्का

सिर्फ घड़ी के भरोसे नहीं
चाहे कोई कितनी भी सावधानी बरते
बार-बार देखे घड़ी की ओर
पहलू बदले बार-बार
लेकिन कुछ औपचारिकताएँ तो ऐसी होती ही हैं कि
आदमी चाहकर भी समय का पाबंद नहीं रह पाता है
कभी इस भरोसे में कि
आखिर गाड़ियाँ भी तो चला ही करती है लेट-लतीफ
कभी इस चक्कर में कि
वह शायद इसी तरह से अपने को संजीदा साबित कर सके

रात की अंतिम गाड़ी के पीछे की भुकभुकाती लाल बत्ती जब धीरे-धीरे
पुतलियों से ओझल होती जा रही हो
ठीक उस समय कितना असहाय होता है
प्लेटफॉर्म पर खड़ा यात्री, स्तब्ध, बेचैन और घबराया हुआ -- हक्का-बक्का
फिर आहिस्ते-आहिस्ते नीहारना शुरू करता है आस-पास की चीजों को
झाड़ियों और दरख्तों को कुत्तों को भीखमंगों को खाली पड़े खोखों को
केला के छिलकों को चाय के मृदभांड को
लहराने के बाद थककर सो गये पताकों को
मरी-मरी-सी बिखरी हुई रोशनी में जड़ हो चुके स्टेशन के नामपट्ट को
हर उस चीज को जिससे पहले कभी इस रूप में मिला ही न हो तब
जब गंतव्य तक ले जानेवाली गाड़ियों के आने का
और बावजूद भीड़ के उस पर चढ़ सकने का भरोसा बाकी हो

थोड़ी देर से ही सही लेकिन अंतत: हारकर शुरू होती है तलाश
अपने ही तरह के छुटे हुए यात्रियों की

विश्वास और अविश्वास के बीच झूलते हुए
अपने अकेलेपन से लड़ता हुआ प्लेटफॉर्म पर छुटा हुआ यात्री
छुटी हुई दुनिया को परिचय के वृत्त में लेने की व्याकुलता से गुजरता है
बढ़ती जाती है व्याकुलता जितनी तेज रफ्तार
उतनी ही तेजी से आदमी रचने लगता है अपने लिए सुरक्षा का नया विस्तार
चाहे जिस सूरत से भी हो --
प्रतीक्षा की घड़ी बिताने के लिए
अगली यात्रा की सुरक्षा के लिए
आदमी सिर्फ घड़ी के भरोसे बैठा नहीं रहता है
भरोसा चाहे धरती की ही तरह क्यों न फैला हो उसके आस-पास

असल में हिंदी या किसी भी भारतीय भाषा में आ रहे दलित साहित्य को स्वीकार करने की सबसे बड़ी पगबाधा है हमारा दृष्टिकोण — सिर्फ परंपरा पोषित दृष्टिकोण ही नहीं बल्कि आधुनिकता जनित दृष्टिकोण भी। दलितत्व एक सामाजिक सचाई है। साहित्य में में इस सचाई का आना स्वाभाविक ही नहीं जरूरी भी है। सचाई और कल्पना के सातत्य की समस्या तो है ही, यह समस्या तब विकट हो जाती है जब हम दलितत्व को भी ललितत्व के पोशाक में ही खोजते हैं या साहित्य मानने के आग्रह में ललितत्व को उसका अनिवार्य पोशाक बना देते हैं। बहरहाल उम्मीद की जानी की चाहिए कि दृष्टिकोण में संतुलन का समावेश होगा लेकिन उसके लिए जरूरी है सामाजिक संतुलन।